

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

तीर्थ-देवालय प्रकरण

प्रारब्धं ज्ञानसत्रं तु चतुर्थस्य दिनस्य च।

पूर्ववत्सन्निधौ तत्र प्रकृते रम्यता भृतः ॥ १ ॥

ज्ञानगोष्ठ्यः शुभारंभकाले चाध्यापकस्तु सः।

शांडिल्यः करबद्धः सन्नुत्थितोऽध्यक्षमुक्तवान् ॥ २ ॥

टीका—चौथे दिन का ज्ञान-सत्र फिर पिछले दिन की भाँति ही प्रकृति के सान्निध्य में आरंभ हुआ। आज की ज्ञान-गोष्ठी के शुभारंभ अवसर पर प्राध्यापक शांडिल्य ने खड़े होकर सत्राध्यक्ष से करबद्ध होकर पूछा ॥ १-२ ॥

शांडिल्य उवाच

देवालयस्थापनाया महत्त्वं देवसंस्कृतौ।

दृश्यतेऽत्यधिकं संति मंदिराणि स्थले स्थले ॥ ३ ॥

बाहुल्यस्यास्य हेतुं तु ज्ञातुं सर्वे समुत्सुकाः।

अनेके किं च गृह्णन्ति कष्टसाध्यं जनाः समे ॥ ४ ॥

विधिं तं तीर्थयात्रायाः कालं वित्तं तथा श्रमम्।

अर्पयन्त्ये तदर्थं च को लाभोऽनेन कीदृशः ॥ ५ ॥

कथं च तीर्थयात्रायाः शास्त्रकारैर्निरूपितम्।

देवदर्शनसंभूतं महत्त्वं विपुलं तथा ॥ ६ ॥

तन्निमित्तं किमौत्सुक्यं धर्मप्रेमिषु दृश्यते।

जनेषु कृपयैतच्च रहोऽस्माकं विबोध्यताम् ॥ ७ ॥

टीका—शांडिल्य ने पूछा, हे महाभाग! देवसंस्कृति में देवालयों की स्थापना का महत्त्व देखा जाता है। स्थान-स्थान पर अनेकानेक मंदिर बने हैं। इस बहुलता का क्या कारण है, सो जानने के लिए हम सब बहुत उत्सुक हैं। साथ ही यह भी जानना चाहते हैं कि तीर्थयात्रा की कष्टसाध्य प्रक्रिया को क्यों अनेकानेक लोग अपनाते हैं? क्यों श्रम, समय और धन इस निमित्त लगाते हैं? इससे उन्हें किस प्रकार क्या लाभ होता है? शास्त्रकारों ने क्यों देव-दर्शन और तीर्थयात्रा का इतना

महत्त्व बताया है कि उनके निमित्त धर्मप्रेमियों में इतनी उत्सुकता पाई जाती है? कृपया इस रहस्य का विस्तारपूर्वक उद्घाटन करें ॥ ३-७ ॥

सामान्य रूप से मंदिरों और तीर्थों का महत्त्व सब जानते हैं, किंतु ऋषि उस मर्म को समझना चाहते हैं, जिस कारण शास्त्रों में और लौकिक प्रचलनों में इन्हें इतना महत्त्व दिया गया।

भारतीय संस्कृति में तो इनका महत्त्व है ही, अन्य संस्कृतियों में, जिनमें मूर्ति प्रतीक पूजा को मान्यता नहीं दी गई, उनमें भी देवस्थलों, मस्जिदों, गिरिजाघरों, स्तूपों, विहारों के रूप में देवस्थल बनाए गए हैं। इसी प्रकार कोई ऐसा संप्रदाय नहीं, कोई ऐसी संस्कृति नहीं, जिसमें तीर्थों की स्थापना तथा उनकी यात्रा को महत्त्व न दिया गया हो।

कात्यायन उवाच—

अस्ति श्रेयस्करी विद्वन् जिज्ञासा भवतस्त्वयम्।

ये श्रोष्यन्ति समाधानं त्वस्य प्रश्नस्य ते जनाः ॥ ८ ॥

लाभान्विता भविष्यन्ति लक्ष्यं प्राप्स्यन्ति जीवने।

भवद्भिः सावधानैश्च श्रूयतां सर्वमादितः ॥ ९ ॥

टीका—कात्यायन बोले, हे मनीषी आपकी जिज्ञासा सब प्रकार श्रेयस्करी है। जो इसका समाधान सुनें वे सभी इससे बहुत लाभान्वित होंगे व जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें ॥ ८-९ ॥

उद्घोषकाः प्रवक्तारो वोढारो देवसंस्कृतेः।

उच्यन्ते ब्राह्मणा येषां वर्गभेदो द्विधा मतः ॥ १० ॥

आश्रमस्थास्तु तत्रैकेऽपरे पर्यटकास्तथा।

मुनयो मनीषिणस्त्वाद्याः कथ्यन्ते चाऽपरे तु ते ॥ ११ ॥

संन्यासिनो वानप्रस्था उभयोर्मिलितस्तु सः।

समुदाय इह प्रोक्तः साधुरित्यविशेषतः ॥ १२ ॥

अस्य वर्गस्य दिव्या सा प्रखरता देवसंस्कृतिम्।

प्रखरां व्यापकां चक्रे तथैव च समुन्नताम् ॥ १३ ॥

टीका—देवसंस्कृति के भारवाहक, उद्घोषक, प्रवक्ता वर्ग को ब्राह्मण कहते हैं। उनके दो वर्ग हैं—आश्रमवासी और पर्यटक। आश्रमवासियों को मुनि-मनीषी कहते हैं और परिव्राजकों को वानप्रस्थ-संन्यासी। इन दोनों का सम्मिलित समुदाय साधु नाम से जाना जाता है। इस वर्ग की प्रखरता ने ही देवसंस्कृति को समुन्नत, प्रखर और व्यापक बनाया है ॥ १०-१३ ॥

महामानवसंज्ञाश्च मानवेभ्यः सदा त्विमे।

देवसंस्कृतिपक्षस्थ विकासाभ्यासयोः कृते ॥ १४ ॥

सुविधा प्रददत्यत्र गृहस्था गुरुकुलस्य च।

आरण्यकस्य मार्गेण विरक्तास्तीर्थयात्रया ॥ १५ ॥

टीका—ये महामानव मनुष्य मात्र को देव संस्कृति के

अनुरूप अभ्यास और विकास की सुविधाएँ प्रदान करते थे। इनमें से गृहस्थ गुरुकुलों एवं आरण्यकों के माध्यम से तथा विरक्त तीर्थ यात्राओं के द्वारा यह क्रम निभाते थे ॥ १४-१५ ॥

ऋषियों ने साधु-संतों ने किस आधार पर भारतभूमि के निवासियों को देवता स्तर का बनाया था। यह उनके जीवनयापन की रहन-सहन, आचार-व्यवहार की शोध करने पर प्रतीत होता है। उनमें से अधिकांश के विशालकाय आश्रमों में से कुछ में गुरुकुल चलते थे कुछ में आरण्यक। गुरुकुल ब्राह्मण वर्ग के ऋषि चलाते थे, और आरण्यक तपस्वी स्तर के। गुरुकुलों में विद्यार्थी पढ़ते थे और आरण्यकों में वानप्रस्थी। बच्चों को गुरुकुलों में इसलिए नहीं भेजा जाता था कि वहाँ कुछ अतिरिक्त पढ़ाई होती थी वरन् वातावरण की विशेषता को ध्यान में रखकर ही विचारवान व्यक्ति अपने बालकों को वहाँ पढ़ने भेजते थे। यद्यपि सुख सुविधा की दृष्टि से वहाँ कठिनाई ही रहती थी। कठिनाई की परिस्थिति में जीवन विकास का प्रशिक्षण होना, विज्ञानों की दृष्टि में एक सौभाग्य है। दरिद्रता में पिछड़ेपन में कष्ट सहना एक बात है और आदर्शों के परिपालन की साधना के निमित्त तितिक्षा भरा जीवनयापन करना दूसरी। दरिद्रता के साथ जुड़ी हुई हीनता व्यक्तित्व को दबोचती है। किंतु आदर्श पालन के साथ जुड़े हुए कष्ट सहन से प्रतिभा और प्रखरता निखारने का अवसर मिलता है। प्राचीनकाल में गृहस्थ ब्राह्मणों के संचालकत्व में गुरुकुल चलते थे। बौद्धिक शिक्षण ऋषि करते थे और दुलार भरा व्यवहार ऋषिकाएँ सिखाया करती थीं। ऋषि उनकी चेतना जगाते थे ऋषिकाएँ उपयुक्त व्यवस्था बनातीं। दोनों के सहयोग से ऐसे गुरुकुल चलते थे, जिनमें पढ़ने के उपरांत जो भी छात्र अपने घरों को लौटते थे, नर रत्न होते थे। उनमें महामानवों के सारे गुण भरे रहते थे। व्यवसाय की दृष्टि से वे जो भी करें, परिष्कृत व्यक्तित्व जुड़ा रहने के कारण वे सामान्य काम भी व्यक्ति और समाज की सुख-शांति का सर्वतोमुखी अभिवर्द्धन करते थे।

लक्ष्मण जी ने महर्षि विश्वामित्र से पूछा गुरुवर! आप ऋषिगण सबके कल्याण की कामना से तप करते हैं, किसी का अहित नहीं चाहते, फिर क्यों असुर आपको सताते हैं?

महर्षि बोले, हे तात्! असुर सबका कल्याण नहीं, अपनी मनमानी चलाना चाहते हैं। आश्रमों में जो श्रेष्ठ व्यक्तित्व तैयार होते हैं, उनके बीच असुरों को अपनी माया चलाने में कठिनाई होती है। इसीलिए वे देव संस्कृति के विकास स्रोतों इन आश्रमों पर प्रहार किया करते हैं।

गुरुकुल वासियों के अतिरिक्त संतों की कितनी मंडलियाँ प्रायः परिभ्रमण करती रहती हैं। आश्रम बनाकर एक ही स्थान पर जमे रहने वाले आचार्य तो केवल वे ही होते थे जो

४.३० प्रज्ञोपनिषद्

शोध कार्य चलाते थे, उन्हीं के लिए स्थान विशेष पर अपना अन्वेषण केंद्र, प्रयोग परीक्षण चलाने की सुविधा मिलती थी। शेष सभी संत, धर्म प्रचारक की भूमिका निभाते थे। परिव्राजक स्तर का ही उनका स्वरूप और कार्यक्रम रहता था। रामायण में लिखा है

सनमान निरादर आदर ही सम संत सुखी विचरंतमही।

निर्वहन्ति क्रमं चैनं तत्र देवालय इमे।

आश्रमेषु पुरेष्वेवाभूवन् ग्रामेषु तेषु च॥ १६॥

एतेषामुपयोगश्च श्रद्धाया वृद्धये तथा।

सदाचारस्य वृद्धयर्थं भवन्ति स्म निरंतरम्॥ १७॥

टीका—देवालय भी ऐसे ही उद्देश्यों के लिए आश्रमों में, नगरों और ग्रामों में भी होते थे। इनका उपयोग श्रद्धा एवं सदाचार संवर्द्धन के लिए सदैव होता था॥ १६-१७॥

धर्म केंद्र एक क्षेत्र में विनिर्मित होते और उनके द्वारा धर्म धारणा को जीवंत रखने का उत्तरदायित्व दूर-दूर के क्षेत्र में सधता है। जिलाधीश पूरे जिले को सँभालता है और तहसीलदार अपनी तहसील को। इसी प्रकार धर्म क्षेत्र की सुव्यवस्था, उपयोगिता एवं सर्वतोमुखी प्रगति साधना में छोटे-बड़े धर्म केंद्रों को निरत रहना पड़ता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए तत्त्वदर्शियों ने उनकी स्थापना की थी।

धर्म संस्थानों के दो रूप हैं, एक स्थानीय-क्षेत्रीय-सीमित। दूसरा व्यापक, समर्थ एवं बहुउद्देशीय। क्षेत्रीय देवालय कहलाते हैं। भगवान् सर्वव्यापी होने से निराकार हैं। पर उनकी साकार स्थापना इसलिए करनी पड़ती है कि सूक्ष्म दर्शन में असमर्थ सामान्य बुद्धि को प्रत्यक्ष दृश्य देखकर स्मरण हो उठे, आकर्षण बढ़े और प्रेरणा जगे। देवालयों की स्थापना इसलिए होती है, कि उन केंद्रों से संपर्क रखने वालों को संपर्क साधते रहकर आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता की त्रिवेणी का नियमित रूप से अवगाहन करने का अवसर मिलता रहे। प्रातः से लेकर सायंकाल तक देवालयों में चलने वाली गतिविधियों का उद्देश्य यही था कि उस क्षेत्र में समुदाय का लोकमानस श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा की दृष्टि से उच्चस्तरीय बना रहे। सर्वजनीन चिंतन एवं चरित्र का उत्कृष्टता के साथ सघन संबंध बना रहे।

प्रतीकपूजामाश्रित्य चलिता पद्धतिस्त्वियम्।

भारतीयस्य धर्मस्य शिक्षणस्य समुज्ज्वला॥ १८॥

धर्माध्यात्मरहस्त्वत्र प्रतीकप्रतिमाध्वना।

बोधितं, देवतानां तां आकृतीनां विभिन्नता॥ १९॥

आयुधानि तथा वाहा संति तेषां तु ये तथा।

अनेकमुखहस्ताश्च सर्वेषामेव निश्चये॥ २०॥

उद्देश्यत्वेन भावोऽयं विद्यते तत्र सुदृढः।

परंपराभिराबद्धैर्देवानां नियमैस्तथा।

तथ्यैः सर्वाञ्जनान् बोद्धुं साधारणमतीनपि।

उत्साहवर्धकं स्याच्च सदैवाकर्षणं महत्॥ २२॥

टीका—भारतीय धर्म की शिक्षण-पद्धति प्रतीक पूजा के रूप में प्रचलित हुई है। धर्म और अध्यात्म के रहस्यों को भारतीय धर्म में प्रतीक-प्रतिमाओं के माध्यम से समझाया गया है। देवताओं की विभिन्न आकृतियाँ, उनके आयुध, वाहन एवं अनेक मुख, हाथ निर्धारित करने के पीछे यह उद्देश्य है कि देव परंपराओं के साथ जुड़े हुए नियमों, तथ्यों रहस्यों से सर्वसाधारण को समझने-समझाने का उत्साहवर्द्धक आकर्षण बना रहे॥ १८-२२॥

बच्चों को अक्षरों की पहचान क कबूतर ख खरगोश आदि प्रतीकों के माध्यम से कराई जाती है। आजकल तकनीकी शिक्षण में भी यही पद्धति उपयोगी मानी जाती है। ऋषियों ने समष्टिगत चेतना और उसके अनुशासनों का बोध प्रतीक पूजा के माध्यम से कराया था। देव प्रतिमाओं में से कुछ के स्वरूप की विवेचना से यह तथ्य स्पष्ट होता है।

वस्तुतो भगवानेक एव स वर्ततेऽस्ति नो।

सहभागोऽपि वा कश्चित्तस्य नापि सहायकः॥ २३॥

एकाकी स समस्तं तज्जगत्स्थावरजंगमम्।

सृजत्यवत्यथांते च संहरत्यात्मनैव च॥ २४॥

सत्ये तथ्येऽपि चैतस्मिन्नेकं सद बहुधा तु तत्।

विप्रा वदन्ति चैकं तु च्छुतावुक्तमनेकम्॥ २५॥

प्रत्यूर्मिसूर्यविंबस्य स्वतंत्रास्तित्वमुज्ज्वलम्।

इवास्तीदं विजानन्ति ये न ते भेदबोधिनाः॥ २६॥

परं विभिन्नताभिस्तु एताभिस्तत्त्वबोधजम्।

रहस्यं विविधं ज्ञातुं सुविधाः प्राप्नुवन्त्यलम्॥ २७॥

टीका—वस्तुतः भगवान् एक हैं। उसका न कोई साझेदार है, न सहायक। अकेला ही सृष्टि का सृजन, पालन और संचालन करता है तथा अंत में संहार भी करता है। इतने पर भी एक सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति की श्रुति में एक को अनेक रूप में प्रस्तुत किया है। वह हर लहर पर स्वतंत्र सूर्य चमकाने की तरह है, जो इस तथ्य को जानते हैं, वे भगवान् की अनेक आकृतियों को देखकर भ्रम में नहीं पड़ते वरन्, इस विभिन्नताओं के माध्यम से तत्त्वज्ञान के अनेक रहस्यों को समझाने की सुविधा प्राप्त करते हैं॥ २३-२७॥

भगवान् को सर्व समर्थ एक मात्र सत्ता के रूप में व्यक्त करते हुए अनेक स्तुतियाँ की गई हैं। जैसे

व्यापक व्याप्त अखंड अनन्ता।

अखिल अमोघ शक्ति भगवंता॥

तथा

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

अर्थात् वह देव एक ही हैं, सर्वभूतों में व्याप्त हैं, गूढ़ हैं, सर्वव्यापी हैं, सभी जीवों का अंतरात्मा वही है, कर्मचेतना का संचालक वही है, सभी भूत उसी में निवास करते हैं, वही सबका साक्षी रूप है, एक मानव ही सब कुछ है, और सभी गुणों से परे है।

सर्वाऽपि प्रतिमा दृश्यं पाठ्यपुस्तकमस्ति हि ।
माध्यमेन च यस्यास्तु जीवनस्यात्र दर्शनम् ॥ २८ ॥
आत्मविज्ञानके संति रहांस्येतानि यानि तु ।
बोद्धुं शक्यानि तान्याशु बालबोध इवाञ्जसा ॥ २९ ॥
वयस्काः शिक्षिता एव पठितुं पुस्तकानि तु ।
समर्थाः परमेतासां प्रतिमानां स्वरूपतः ॥ ३० ॥
सामान्याः पुरुषाश्च स्युर्बहुज्ञातुं क्षमाः स्वयम् ।
एतादृशं स्वरूपं हि प्रतिमानां तु वर्तते ॥ ३१ ॥
अनेकत्वे चैकताया दर्शनस्येयमुत्तमा ।
पद्धतिर्विद्यतेऽपीह मनोरंजनकारिणी ॥ ३२ ॥
सारगर्भा दूरदर्शिभावगा व्यवहारगा ।
मनोविज्ञानबोधस्य ध्यानं संस्थापने कृतम् ॥ ३३ ॥

टीका—हर देव प्रतिमा एक दृश्यमान पाठ्यपुस्तक है। जिसके माध्यम से जीवन-दर्शन और आत्मविज्ञान के गूढ़ रहस्यों को बालबोध की तरह समझा और समझाया जा सकता है। पुस्तकें तो शिक्षित वयस्क ही पढ़-समझ सकते हैं, पर प्रतिमा-प्रतीकों के दृश्य स्वरूप के सहारे सामान्यजन भी बहुत कुछ जान और सीख सकते हैं, प्रतिमाओं का स्वरूप ही ऐसा है। अनेकता के बीच एकता देखने की यह पद्धति मनोरंजक भी है, और सारगर्भित भी, व्यावहारिक और दूरदर्शितापूर्ण भी। इस स्थापना में मानव-मनोविज्ञान का समुचित ध्यान रखा गया है ॥ २८-३३ ॥

लिपि की अपेक्षा प्रतीक चित्रों से शिक्षण अधिक अच्छा होता है। चित्रकथाएँ इसीलिए लोकप्रिय हैं। चुनावों में चुनाव चिह्नों का क्रम भी इसीलिए है, कि पढ़े-बेपढ़े सभी उसके माध्यम से प्रत्याशी को पहचान लें। मार्गों पर मोड़ पुल आदि के लिए भी प्रतीक चिह्न या चित्र अधिक उपयोगी माने गए हैं। इसी प्रकार भारतीय तत्वज्ञों ने गूढ़ मर्मों को देवमूर्तियों के माध्यम से समझाया है।

प्रत्येकस्य समीपस्थं सेवाक्षेत्रमपि त्विह ।
यदुच्यते मंडलं तज्जनजागृतिकारकः ॥ ३४ ॥
उत्तरदायित्वनिर्वाहकारणाद् धर्मधारणात् ।
मंडलाधीश एवाथ मंडलेश्वर एव वा ॥ ३५ ॥
कथ्यते, विस्तृतं यस्य क्षेत्रं स कथ्यते बुधैः ।
स महामंडलेशस्तु बहुमंडलशासकः ॥ ३६ ॥

टीका—हर देवालय का एक समीपवर्ती सेवाक्षेत्र भी निर्धारित होता है। इसे मंडल कहते हैं। मंडल क्षेत्र में जनजागृति

और धर्मधारणा का उत्तरदायित्व सँभालने वालों को मंडलाधीश या मंडलेश्वर कहते हैं। जिनका सेवाक्षेत्र बड़ा है, जो अनेक मंडलों की व्यवस्था सँभालते हैं, उन्हें महामंडलेश्वर कहते हैं ॥ ३४-३६ ॥

ऋषियों ने लोक चेतना जागरण के लिए एक व्यवस्थित तंत्र विकसित किया था। मंदिर और तीर्थ उसके संचालन केंद्र थे। जहाँ जैसे साधन तथा जिस प्रतिभा के लोकसेवी मिल जाते थे, वहाँ उसी स्तर का केंद्र विकसित कर दिया जाता था। निस्पृह लोकसेवियों द्वारा उस क्षेत्र का इतना हित साधन होता था कि ऐसे केंद्र स्थापित करने के लिए होड़ लग जाती थी।

दायित्वमनयोस्तत्र कर्तव्यं च द्विधैव तत् ।
विभक्तं तत्र तत्रत्य विधीनां निर्मितः सदा ॥ ३७ ॥
प्रशिक्षणपरा कार्या कथासत्संगयोरपि ।
विद्यालस्य धर्मानुष्ठानस्यापि विशेषतः ॥ ३८ ॥
व्यायामभवनस्याथ चिकित्सासद्मनोऽपि च ।
प्रखरत्वविनिर्माणं पुस्तकालयसंस्थिते ॥ ३९ ॥
द्वितीयं स्वस्यसंपर्कक्षेत्रे सद्वृत्तिवर्धकम् ।
पौरोहित्यस्य कर्मेतत्कर्तव्यं भवति प्रियम् ॥ ४० ॥
एतदर्थं जनैस्तत्र संपर्क साधितुं तथा ।
घनिष्ठतां विधातुं चानिवार्यत्वं मतं स्वतः ॥ ४१ ॥
यदर्थं यत्नशीलाश्च देवालयसुशासकाः ।
सदा संति ददत्येते महत्त्वमुभयोः स्थितम् ॥ ४२ ॥

टीका—इनका कर्तव्य उत्तरदायित्व दो भागों में बँटा रहता है। एक स्थानीय गतिविधियों को लोकशिक्षण परक बनाए रहना। वहाँ पाठशाला, व्यायामशाला, कथा-सत्संग, धर्मानुष्ठान, पुस्तकालय, चिकित्सालय आदि रचनात्मक गतिविधियों को प्रखर बनाए रहना। दूसरा संपर्क क्षेत्र में सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन का पौरोहित्य करना। इस निमित्त उस क्षेत्र की जनता के साथ संपर्क साधने और घनिष्ठता रखने की आवश्यकता पड़ती है, जिसके लिए देवालय के संचालक निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं। वे स्थानीय और क्षेत्रीय व्यवस्था को समान महत्व देते हैं ॥ ३७-४२ ॥

मंदिर संचालकों को स्थानीय और क्षेत्रीय दोनों गतिविधियाँ चलानी होती हैं। उसके लिए अपनी योग्यता और भावना दोनों विकसित करनी होती हैं। योग्यता के बिना कार्य नहीं सधता तथा भावना के बिना अपने अंदर उत्साह और दूसरों पर प्रभाव नहीं उभरता। यह दोनों क्षमताएँ संत-समाज में होनी चाहिए। न होने से उनकी उपयोगिता घट जाती है।

पूजैषा मानवस्याथ प्रभोधर्मस्य संस्कृतेः ।
आश्रमस्थानतो विप्रान् वदंत्यपि च पूजकान् ॥ ४३ ॥

टीका—यह भगवान् मनुष्य और धर्म-संस्कृति की

४.३२ प्रज्ञोपनिषद्

वास्तविक पूजा है, इसलिए उन आश्रमवासी ब्राह्मणों को पुजारी भी कहते हैं ॥ ४३ ॥

मूर्तियों के सामने पूजा-उपचार प्रतीक पूजा भर होती है। परंतु जब विश्व विराट में फैले प्राणि समुदाय मानव समुदाय की सेवा सहायता की जाती है, पिछड़ों को आगे बढ़ाया, गिरों को ऊँचे उठाया, अशिक्षितों को शिक्षित किया जाता है तो वही ईश्वर की देवता की सार्थक पूजा कहलाती है। प्राचीनकाल के ब्राह्मण पुजारी इसी सेवा-साधना में संलग्न रहते थे और सच्चे संत की भक्त की गौरवांविता पदवी मान्यता पाते थे।

जनजागरणसंबद्धा येऽनिवार्या उपक्रमाः।
तेषां संचालनायात्र प्रशिक्षणं गृहा अपि ॥ ४४ ॥
उपासना स्थलैः सार्धमावाससहिता इमे।
कर्तुं परंपरा दिव्या वर्तते व्यावहारिकी ॥ ४५ ॥
प्रशिक्षणस्थलस्याथ पूजाकक्षस्य तस्य च।
संचालकनिवासस्य प्रक्रियाभिः समग्रतः ॥ ४६ ॥
देवालय स्थितिर्नूनं जायते केवलां तु ताम्।
प्रतिमास्थापनामाहुरेकांगानुपयोगिनीम् ॥ ४७ ॥
विना तावत्प्रबंधेन पूर्तिर्नोद्देश्यपूरका।
संभवेद् येभ्य आप्तैस्तु देवालयविनिर्मितैः ॥ ४८ ॥
योजनाऽऽप्ता महाशक्त्यैः कार्यान्वयाय च।
कृतो गाथाश्च गीतास्ता माहात्म्यानां सुविस्तराः ॥ ४९ ॥

टीका—जन-जागरण संबंधी आवश्यक गतिविधियों के संचालन के लिए देवालयों में उपासना स्थल के साथ ही प्रशिक्षण तथा आवास स्थल भी रखने की परंपरा है, जो व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पूजाकक्ष, संचालक-निवास एवं प्रशिक्षण स्थल की त्रिविध प्रक्रियाओं का समावेश रहने से ही एक समग्र देवालय बनता है। प्रतिमा मात्र की स्थापना को एकांगी, अनुपयोगी एवं निषिद्ध ठहराया गया है। उतना प्रबंध न हो पाने पर उन उद्देश्यों की पूर्ति संभव नहीं, जिनके लिए आप्तजनों ने देवालयों को स्थापित करने की योजना बनाई और कार्यान्वित करने में असीम शक्ति लगाई। प्रेरणा देने वाले माहात्म्यों की गाथा गाई ॥ ४४-४९ ॥

जो निर्धारण बड़े उद्देश्यों के लिए हुए हैं, उनसे सामान्य उद्देश्य भरे पूरे हों तो वह एक प्रकार का घाटा है। देवालयों के उद्देश्य बहुत व्यापक और महत्वपूर्ण थे। पूजा उपचार क्षणिक संतोष देने वाले क्रमों से उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता। उन्हें बनाने में लगे श्रम और निष्ठाओं का पूरा उपयोग किया जाना आवश्यक है।

कात्यायन उवाच—

भद्रा! देवालयस्येदं पारम्पर्यं वहंति ते।

ब्राह्मणा आश्रमस्थास्तु तथैव भ्रमणादपि ॥ ५० ॥

जनजागृतिर्कार्यस्य पुण्ये लग्ना विधौ च ये।

परिव्राजकविप्राणां पद्धतिस्त्वात्मनोऽस्ति सा ॥ ५१ ॥

वानप्रस्थाः प्रवृत्तास्ते संन्यासस्था इहैव तु।

यथा मेघा धरां शुष्कां सिञ्चितां कर्तुमुद्यताः ॥ ५२ ॥

धावंति च जगत्प्राणो गत्वा प्राणान् प्रयच्छति।

मनुष्येभ्यस्तथा चैष प्रभाया ऊष्मणोऽपि च ॥ ५३ ॥

दाता दिवानिशं धत्ते प्रव्रज्यामिव भास्करः।

तमिस्त्रायां प्रभां शैत्यं शीतांशुः स प्रयच्छति ॥ ५४ ॥

देवा इव मनुष्येषु देवानां स्तरगास्तु ये।

जनजागृतिहेतोस्ते भ्रमंति हृदये नृणाम् ॥ ५५ ॥

तत्र धर्मधृतिं भावयंति दिव्यां गृहे गृहे।

सद्वृत्तिवर्धनस्यापि प्रखरं कर्म कुर्वते ॥ ५६ ॥

प्रयोजनाय चैतस्मै यत्ना येऽनेकरूपिणः।

क्रियंते तीर्थयात्रास्ते कथ्यंते सर्व एव हि ॥ ५७ ॥

टीका—कात्यायन पुनः बोले, हे भद्रजनों! जिस प्रकार देवालय परंपरा को आश्रमवासी ब्राह्मण सँभालते हैं, उसी प्रकार परिभ्रमण द्वारा जन-जागरण की पुण्य प्रक्रिया में निरत रहने वाले परिव्राजक, संत समुदाय की अपनी कार्यपद्धति है। वानप्रस्थ और संन्यासी इसी में प्रवृत्त रहते हैं। बादल सूखी भूमि को सींचने के लिए दौड़ते हैं। पवन हर प्राणी को उनके पास जा-जाकर प्राण-अनुदान बाँटता है। सूर्य की अहर्निश प्रव्रज्या संसार को गरमी तथा रोशनी बाँटने के निमित्त चलती है। चंद्रमा सघन तमिस्रा में यथासंभव प्रकाश देता और शीतलता बिखेरता है। इन देवताओं की तरह मनुष्यों में जो देवस्तर के हैं, वे जन-जागरण के लिए सर्वत्र परिभ्रमण करते जन-जन के मन में धर्म-धारणा उगाते, घर-घर में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन का अलख जगाते हैं। इस प्रयोजन के लिए विभिन्न रूप में किए जाने वाले प्रयत्न तीर्थयात्रा कहलाते हैं ॥ ५०-५७ ॥

तीर्थयात्रा का परमार्थ पक्ष वह है जिसमें विज्ञान मंडली बनाकर, धर्म प्रचार का उद्देश्य आगे रखकर चलते थे। मार्ग में मिलने वालों से ऊँचा उठाने वाली, आगे बढ़ाने वाली वार्ता करते थे। रात्रि को जहाँ ठहरते, वहाँ लोकशिक्षण के निमित्त कथा-कीर्तन का आयोजन रखते थे। साथ ही व्यक्तिगत अथवा स्थानीय उलझनों के संदर्भ में सुझाव-समाधान भी प्रस्तुत करते थे। लोग उनकी निष्पक्षता, विद्वता एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर बातें मानते भी थे। इस प्रकार यह तीर्थयात्राएँ घर-घर अलख जगाने और जन-जन के मन-मन में धर्मधारणा उभारने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। उस प्रयास की उपयोगिता और संलग्न व्यक्तियों की महानता को देखते हुए श्रद्धालु लोगों ने उनके प्रवास को सरल बनाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया था। धर्मशालाएँ सदावर्त, उद्यान बनाने में तीर्थयात्रा

के लिए सुविधा साधन जुटाना, धर्म-प्रचारकों को सहयोग देना ही एकमात्र प्रयोजन था।

साधुभ्यस्तीर्थायात्रायास्तपः कर्तुं सदैव तु।
शास्त्रीयं वर्तते दिव्यं विधानं पुण्यदायकम् ॥ ५८ ॥
अयमुच्चतरो नूनं योगाभ्यासोऽस्ति वा पुनः।
देवाराधनमेतस्माद् यत्नस्यास्य फलं नहि ॥ ५९ ॥
कस्मादपि विचारान्तु न्यूनमास्ते परार्थगात्।
मंडले यांति सर्वे ते परिव्राजकसाधवः ॥ ६० ॥
येन यत्रापि वासः स्यात्प्रचारस्तत्र संभवेत्।

सोत्साहं मंडले तत्र भवन्त्येव सदैव च ॥ ६१ ॥

टीका—साधु समुदाय को सर्वदा तीर्थयात्रा की तपश्चर्या करते रहने की पुण्यदाई शास्त्रीय विधान है। यह उच्चस्तरीय योगाभ्यास एवं देवाराधन है। इस प्रयास का पुण्यफल किसी भी परमार्थ उपक्रम से यह नहीं माना गया है। इसके लिए परिव्राजक, मंडली बनाकर निकलते हैं, ताकि जहाँ ठहरें वहाँ उत्साहवर्द्धक प्रचार-प्रक्रिया संपन्न कर सकें ॥ ५८-६१ ॥

परमार्थ हेतु चलते रहना देव संस्कृति का उद्घोष है। चरैवेति-चरैवेति चलते रहो, चलते रहो का मंत्र इसी निमित्त दिया गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है, बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य भी बैठा रहता है, बढ़ता नहीं। उठकर चलने वाले का भाग्य उन्नति की ओर बढ़ता है। भूमि पर सोते रहने वाले का भाग्य भी सोता है। जो देश देशांतर में अर्जन के लिए निकल पड़ता है उसका भाग्य दिन-दिन बढ़ता जाता है। सोने वाला कलि बनता है, नींद को त्याग करने वाला द्वापर, उठने वाला त्रेता चलने वाला सतयुग बनता है।

तीर्थयात्रास्वरूपं तु पदयात्रैव विद्यते।

लोकैश्च बहुभिर्भूयान् संपर्कस्त्वेवमेव हि ॥ ६२ ॥

टीका—तीर्थयात्रा का स्वरूप पदयात्रा है, क्योंकि अधिक लोगों से अधिक जनसंपर्क साधना, इसी प्रकार संभव हो सकता है ॥ ६२ ॥

प्राचीनकाल में धर्म-परायण व्यक्ति छोटी-बड़ी मंडलियाँ बनाकर तीर्थयात्रा के लिए पैदल ही निकलते थे। कहाँ से चलकर, किस मार्ग से, किन-किन स्थानों पर ठहरते हुए, कब तक वापस लौटेंगे, इसकी रूपरेखा प्रत्येक मंडली अपनी-अपनी प्रथक्-प्रथक् बनाती थीं। मार्ग में जो भी गाँव, झोंपड़े, नगले, पुरवे मिलते थे, उनमें रुकते, ठहरते किसी उपयुक्त स्थान पर रात्रि विश्राम करते थे। यही क्रम निरंतर चलता था। दिन में जहाँ रुकना हो, वहाँ धर्म चर्चा करना लोगों को कथा सुनाना और उन्हें उपर्युक्त मार्गदर्शन देना, यह क्रम प्रातः से सायंकाल तक चलता था। रात्रि में जहाँ रुकते, वहाँ कथा-

कीर्तन का शंका समाधान का सत्संग क्रम बनता था। यही कार्य पद्धति पूरी यात्रा अवधि में बनी रहती थी। काय-चिकित्सा, मानसिक-चिकित्सा, उपयोगी परामर्श, समर्थ शुभकामना जैसे अनेकों लाभ इस संत मंडली के संपर्क से जन-साधारण को मिलते थे। इन मंडलियों के स्तर एवं क्रियाकलाप से जन-जन के मन-मन में अपार श्रद्धा उमड़ती थी। अस्तु वे उनके प्रति न केवल भाव भरा सम्मान व्यक्त करते थे, वरन् उनके लिए आवश्यक सुविधा जुटाने में पूरा-पूरा सहयोग भी करते थे।

तीर्थयात्रिपरिव्राजः, स्वयात्राया उपक्रमम्।

क्षेत्रावश्यकतारूपं कुर्वते विश्रमस्य च ॥ ६३ ॥

तेषां व्यवस्थितिं तेभ्यः सुविधानां समर्जनम्।

स्थाने-स्थाने स्थितान्येव कुर्वते मंदिराणि तु ॥ ६४ ॥

टीका—तीर्थयात्री परिव्राजक अपनी यात्रा का उपक्रम क्षेत्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए बनाते हैं। उनके विराम के लिए सुविधा जुटाने और व्यवस्था बनाने का उत्तरदायित्व स्थान-स्थान पर विनिर्मित देवालय सँभालते हैं ॥ ६३-६४ ॥

तीर्थयात्रा का उद्देश्य लोकहित होता है, इसलिए समय की आवश्यकता देखकर संत यात्रा का उद्देश्य और स्वरूप निर्धारित करते रहे हैं।

उपहारान् दक्षिणां च स्थापयेद्देवसंमुखे।

दर्शकस्तत्र, भोगस्य प्रबंधोऽपि भवेत्सदा ॥ ६५ ॥

आश्रमार्थव्यवस्थां च कर्तुं संतुलितामिदम्।

निर्धारणं वर्ततेऽत्र निश्चितं देवसद्वचनाम् ॥ ६६ ॥

टीका—देवता के सम्मुख दर्शक भेंट-दक्षिणा रखें। उनके भोग आदि का प्रबंध रहे यह निर्धारण आश्रम की अर्थ-व्यवस्था सुसंतुलित रखने के लिए है ॥ ६५-६६ ॥

देवालयों तथा तीर्थों के सामान्य खर्च के लिए उद्देश्य की पवित्रता के अनुरूप ही साधनों की पवित्रता भी रखी जानी चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हेतु दान लेने को देव संस्कृति ने निषिद्ध ठहराया है। श्रद्धालु गण भगवान के सामने अपने श्रद्धा सहयोग-अंशदान इसलिए अर्पित करते हैं कि उससे आश्रम व्यवस्था सुसंतुलित रूप से चलती रहे और जिनके कंधों पर धर्म-जागरण का, जन-जागृति का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

तीर्थवासी या तीर्थ सेवा को व्यक्तिगत दान न लेने का अनुशासन शास्त्रों में स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार ने कहा है

यो न क्लिष्टोऽपि भिक्षेत ब्राह्मणस्तीर्थसेवकः।

सत्यवादी समाधिस्थः स तीर्थस्योपकारकः ॥

जो तीर्थ सेवी ब्राह्मण अत्यंत क्लेश पाने पर भी किसी से दान नहीं लेता, सत्य बोलता और मन को वश में रखता है,

४.३४ प्रज्ञोपनिषद्

वह तीर्थ की महिमा बढ़ाने वाला है।

श्रद्धा भरा सहयोग देवस्थल पर दिया जाना और उसी से सत्पात्रों की आवश्यकता पूरी होने का क्रम ही सदा उचित ठहराया गया है। इन दिनों भी कितने ही धर्म संस्थानों के पास अच्छे आजीविका स्रोत हैं। तिरुपति बालाजी, साई बाबा, नाथद्वारा, चारों धाम के शंकराचार्य मठ आदि का उल्लेख अभी भी संपत्तिवान धर्म संस्थानों के रूप में किया जाता है। अन्यान्य छोटे बड़े मठ संस्थान भी ऐसे हैं, जिनके पास लोकमंगल के लिए प्रचुर संपदा है। जिसका उपयोग होना चाहिए। यह परंपरा इसलिए चली थी कि वर्तमान ईसाई मिशन की तरह उनकी शक्ति अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति के अनेकानेक रचनात्मक प्रयोजनों में लगी रह सके। प्राचीनकाल में बौद्ध संस्थान भी साधन संपन्न थे। यह राशि उन्हें लोकश्रद्धा की परमार्थ भावना के द्वारा उपलब्ध हो सकी थी।

संपर्कस्तीर्थयात्राया देवसदमन एव च।

मध्ये ह्येतादृशः सोऽस्ति यथा ते पूरका मताः ॥ ६७ ॥

साधवो ब्राह्मणाश्चैव परस्परमिमे समे।

पणस्यैकस्य पाश्वो द्वौ मतौ तु मिलितौ यथा ॥ ६८ ॥

टीका—तीर्थयात्रा और देवालय व्यवस्था के बीच उसी प्रकार का तालमेल है, जैसा कि साधु और ब्राह्मणों को परस्पर पूरक माना गया है और एक ही सिक्के के दो पहलू कहा गया है ॥ ६७-६८ ॥

गाँव-गाँव, मुहल्ले-मुहल्ले, छोटे-बड़े देवालयों की आवश्यकता इसलिए समझी गई कि वे अपने-अपने क्षेत्र में जन-जागरण के केंद्र बना कर रहें। यह स्थानीय देवालयों की बात हुई है। इससे बढ़कर दूसरा प्रयास है तीर्थों का। उन्हें भावना क्षेत्र के शोध संस्थान, निवारक अस्पताल, संवर्द्धन सेनेटोरियम, विभिन्न फैकल्टियों से सुसंपन्न महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के समतुल्य समझा जा सकता है। बच्चों के गुरुकुल गृहस्थों के समाधान-सत्र एवं अर्धेड़ों के आरण्यक बनकर वे रहते थे। तत्त्वदर्शी ऋषि प्रकृति सान्निध्य में जलाशयों की सुविधा वाले ऐतिहासिक प्रेरणाओं से जुड़े हुए स्थान इस निमित्त चुनते थे, जिनमें दूर-दूर से लोग पहुँचते रहें। घर से दूर रहकर उपयुक्त मनःस्थिति एवं प्रेरणाप्रद परिस्थिति का लाभ उठाते हुए व्यक्तियों का समग्र परिष्कार कर सकें।

शांडिल्य उवाच—

धर्म - प्रचारका नैव जना ये संति ते कथम्।

तीर्थयात्रानिमित्तेन यांति तीर्थानि संततम् ॥ ६९ ॥

कारणं विद्यते किं तद् भगवन् बोध्यतामिदम्।

आकर्ण्यैतन्महर्षिः स प्राह कात्यायनस्तदा ॥ ७० ॥

विद्वांसस्तीर्थयात्रायाः फलं ते प्राप्नुवन्त्यलम्।

सामान्या अपि ते मर्त्याः प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ ७१ ॥

पदयात्रा स्वास्थ्यवृद्धिं विधत्तेऽनुभवं तथा।

व्यावहारिकमेतच्च ज्ञानं वर्धयति ह्यलम् ॥ ७२ ॥

संपर्को वर्धते नूनं स च परिचयोऽपि तु।

लाभांस्तान् यांति नैकत्र - स्थितान्यानुपयान्ति ते ॥ ७३ ॥

टीका—कात्यायन बोले, हे विद्वज्जनो! सामान्य जनों को भी तीर्थयात्रा का पुण्यफल प्रत्यक्ष मिलता है, इसमें संदेह नहीं। पदयात्रा से स्वास्थ्य सुधरता है, अनुभव बढ़ता है, व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होती है, परिचय और संपर्क बढ़ता है। इस प्रकार वे उन लाभों को प्राप्त करते हैं, जो एक जगह पर बैठे रहने से मिल ही नहीं सकते ॥ ७१-७३ ॥

प्राचीनकाल में धर्म प्रचार के उद्देश्य से मंडलियाँ निकलती थीं। कुछ उनमें सूत-वक्ता और कुछ शौनक साथी श्रोतागण होते थे। अनेक ऋषियों के गुरुकुल भी उसी पद्धति के आधार को अपनी व्यवस्था बनाते थे। गौ-समूह के साथ छात्रगण अपने गुरुजनों के साथ निकलते थे। मार्ग में स्काउटों के कैंप फायर की तरह पड़ाव डालते, गौएँ चराते हुए ठहरते और आगे बढ़ते थे। साथ-साथ अध्ययन-अध्यापन भी चलता रहता था। वास्तविक शिक्षा में गधे की तरह छात्र पर पुस्तकों पर अनावश्यक भार लाद देने का भौंडापन नहीं, सर्वतोमुखी अनुभव संपादन का आधार जुड़ा रहता है, छात्रों को उस परिभ्रमणकारी शिक्षा से बहुमुखी लाभ मिलते थे। उपाध्यायगण स्थानीय लोगों को भी अपने धर्मोपदेशों से लाभान्वित करते रहते थे। नए छात्रों का प्रवेश भी उस मंडली में होता रहता था। जो लोग गुरुकुल शिक्षापद्धति का महत्व नहीं समझते थे, उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेरणा मिलती थी और वे भी अपनी संतान को उसमें प्रवेश कराते थे। इसे तीर्थयात्रा स्तर का गुरुकुलीय प्रशिक्षण कहा जाता था। लगातार ऐसा परिभ्रमण न हो सके, तो भी प्रत्येक गुरुकुल को कुछ-कुछ समय के लिए शिक्षण सत्रों की छोटी-छोटी टोलियाँ विभिन्न दिशा में भेजनी होती थीं। इसमें छात्र, अध्यापकों को ही नहीं, संपर्क में आने वाले क्षेत्रों तथा जन-साधारण को भी बहुमूल्य ज्ञान संपादन का अवसर मिलता रहता था, तीर्थयात्रा का कितना महत्वपूर्ण और कितना सार्थक स्वरूप था वह।

सामाजिक्या च दृष्ट्यापि लाभा अस्या मता यथा।

विकेंद्रीकरणं श्रेष्ठं स्वतो वित्तस्य जायते ॥ ७४ ॥

लघुद्योगा महान्तश्च विकासं यांति ते क्रमात्।

विशालत्वं प्रयात्येषा भावना वर्द्धते तथा ॥ ७५ ॥

देशभक्तिस्तथोपैति विस्तरं क्षेत्रमात्मनः।

जना आत्मान एवातः प्रतीयंते समेऽपि च ॥ ७६ ॥

टीका—सामाजिक दृष्टि से भी इसके बड़े लाभ हैं। धन का वितरण-विकेंद्रीकरण होता है, लघु एवं विशाल उद्योग पनपते हैं, विशालता की भावना है, देशभक्ति में प्रखरता आती

हैं और आत्मीयता का क्षेत्र सुविस्तृत होता है। सभी मनुष्य अपने परिवार रूप में दीखते हैं ॥ ७४-७६ ॥

पर्यटन को एक अच्छा उद्योग माना गया है, कई राष्ट्रों की अर्थ नीति तो पर्यटन व्यवसाय पर ही टिकी है। विद्वान विद्वत्ता के प्रसार के लिए, कलाकार कला विस्तार के लिए तथा व्यापारी उद्योग विस्तार के लिए छोटी और लंबी यात्राएँ किया करते थे। आजकल भी विद्यार्थियों को उद्योगकेंद्रों, देश की विभिन्न संस्कृतियों का स्वरूप समझाने के लिए शिक्षण यात्राएँ की जाती हैं, अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव बढ़ाने के लिए भी शिष्ट मंडलों, युवकों, विद्यार्थियों के दल अन्य देशों की यात्रा करते हैं। इससे आत्मीय तथा सांस्कृतिक सद्भाव बढ़ता है। विशिष्ट सेमिनार, मेले आदि भी इसी उद्देश्य से किए जाते हैं।

स्थितास्तत्र च कुर्वन्ति त्वात्मशोधनसाधनाम्।

परिष्कुर्वन्ति चात्मानं त्रुटीस्ता दूरयन्त्यपि ॥ ७७ ॥

प्रायश्चित्तं चरन्त्यत्र योगाभ्यासं तथैव च।

रतास्तपसि सत्संगस्वाध्यायौ लभतेऽपि च ॥ ७८ ॥

प्राप्यते प्रतिभानां च सप्राणानां तु सन्निधेः।

लाभो महास्तु यो तं ते प्राप्नुवन्त्येव संततम् ॥ ७९ ॥

अन्विच्छन्ति समाधानं ग्रन्थिनां कुर्वन्ते तथा।

व्यवस्थितां योजनां ते भविष्यन्निर्धुतेः शुभम् ॥ ८० ॥

वातावृतौ प्रेरकायां वसन्तः प्राणभृत्यपि।

तीर्थसेवनमाहुश्च कल्पसाधनमप्यतः ॥ ८१ ॥

रूपे वास्तविके तच्चेत्संपन्नं क्रियते ततः।

स्वास्थ्यं शरीरसंबन्धिचिन्तनं मानसं तथा ॥ ८२ ॥

परिवर्तनमायाति सहजीवन कर्मणा।

भविष्यन्निर्मितेर्लाभः कायाकल्प इवेष्यते ॥ ८३ ॥

टीका—तीर्थ सेवन को मानसिक उपचार माना गया है। वहाँ रहकर लोग आत्मशोधन और आत्म-परिष्कार की साधना करते हैं। भूतकाल की गलतियों को सुधारते हैं। पापों का प्रायश्चित्त करते हैं। योगाभ्यास और तप-साधना में निरत रहते हैं। स्वाध्याय-सत्संग का लाभ उठाते हैं। प्राणवान प्रतिभाओं के सान्निध्य से जो असीम लाभ मिलता है, उसे उपलब्ध करते हैं। प्रस्तुत गुणधर्मों का समाधान खोजते हैं। तथा भविष्य निर्धारण की सुव्यवस्थित योजना वहाँ के प्राणवान प्रेरणाप्रद वातावरण में रहकर बनाते हैं। तीर्थ सेवन को कल्प साधन कहा गया है। उसे यदि सही रूप में संपन्न किया जा सके, तो शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक चिंतन, जीवनचर्या में परिवर्तन एवं भविष्य-निर्माण की दृष्टि से कायाकल्प जैसा लाभ ही मिलता है ॥ ७७-८३ ॥

तीर्थ सेवन में केवल बाह्य उपचार पर्याप्त नहीं। साधक को तीर्थ चेतना के साथ अपने चिंतन को मिलाना पड़ता है।

नारद पुराण का मत है

गंगादि तीर्थेषु वसन्ति मत्स्या देवालये पक्षिगणाश्च संति।

भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते तीर्थाच्चदेवायतनाच्चमुख्यात् ॥

भावं ततो हृत्कमले निधाय तीर्थानि सेवेत समाहितात्मा।

अर्थात्—गंगा आदि तीर्थों में मछलियाँ निवास करती हैं, देव मंदिरों में पक्षीगण रहते हैं, किंतु उनके चित्त भक्ति-भाव से रहित होने के कारण उन्हें तीर्थ सेवन और देव मंदिर में निवास करने का कोई फल नहीं मिलता। अतः हृदय कमल में भाव का संग्रह करके एकाग्रचित्त होकर तीर्थसेवन करना चाहिए।

नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत्।

यथोक्तफलदं तीर्थं भवेच्छ्रद्धात्मनां नृणाम् ॥

अर्थात्—पापी मनुष्यों के तीर्थ में जाने से उनके पाप की शांति होती है। जिनका अंतःकरण शुद्ध है, ऐसे मनुष्यों के लिए तीर्थ यथोक्त फल देने वाला है।

गत्वा तीर्थेषु बालानां संस्काराणां विधेस्तथा।

पाणिग्रहणकार्यस्य पितृश्राद्धविधेरपि ॥ ८४ ॥

वानप्रस्थाश्रमस्यापि विद्यते सा परंपरा।

सर्वेषां हि महत्त्वं तद्ध्येतदाश्रित्य वर्तते ॥ ८५ ॥

तस्या वातावृतेर्लाभं गंतुणामञ्जसा नृणाम्।

जीवनं सम्पदां मार्गं दैवीनां क्राम्यति स्वयम् ॥ ८६ ॥

टीका—तीर्थों में जाकर बालकों के संस्कार कराने, विवाह करने, वानप्रस्थ लेने, पितरों का श्राद्ध कर्म करने की जो प्रथा-परंपरा है, उसका महत्त्व भी इसी आधार पर है कि उस प्रेरणाप्रद वातावरण का इन प्रयोजनों के लिए जाने वाले लोग भी अनायास लाभ लेते हैं, जिससे जीव अनायास दैव-संपत्ति के मार्ग में चलने लगता है ॥ ८४-८६ ॥

तीर्थों में जाकर संस्कार कराने की परिपाटी सनातन है। आज भी उसको चिह्न-पूजा के रूप में निभाया जा रहा है। उस परंपरा को पुनः सुनियोजित करने की आवश्यकता है।

लोग मुंडन और श्राद्ध आदि ही तीर्थों में कराते देखे जाते हैं, किंतु गर्भिणी का पुंसवन, बालक का नामकरण, मुंडन, विद्यारंभ तथा दीक्षा-यज्ञोपवीत, सभी तीर्थों के संस्कारित वातावरण में कराए जाने चाहिए। विवाह और वानप्रस्थ संस्कार भी उपयुक्त वातावरण में ही फैलते हैं।

सशक्तां प्रखरां तीर्थप्रक्रियां कर्तुमेव यत्।

दानं प्रदीयते तत्तु सामान्येभ्यः समर्पितात् ॥ ८७ ॥

प्रयोजनेभ्यो वा नृभ्यो दानान्मानितमुत्तमैः।

अनेकगुणपुण्यानां लोके तु फलदायकम् ॥ ८८ ॥

तीर्थयात्रा तथेत्थं च यत्र सा वर्तते तपः।

परिव्राजां कृते साधुमनसामृषिरूपिणाम् ॥ ८९ ॥

महत्त्वं वर्तते न्यूनं तस्या नृभ्यो न चाण्वपि।

४.३६ प्रज्ञोपनिषद्

सर्वसाधारणेभ्योऽतो ग्राह्या सा सन्ततं जनैः ॥ ९० ॥

तेऽपि मर्त्या यथाशक्ति कुर्वन्तो जनजागृतिम् ।

पदयात्राऽनुबद्धानां पुण्यानां कर्मणां बहु ॥ ९१ ॥

लभन्ते लाभमन्ये च सुविधाः साधनानि ये ।

अस्यै समर्पयन्त्येते सद्गतिं यांति धर्मिणः ॥ ९२ ॥

टीका—तीर्थ प्रक्रिया को जीवन एवं प्रखर बनाने के लिए दिया गया दान, सामान्य व्यक्तियों या प्रयोजनों के लिए दिए गए दान की तुलना में अनेक गुना पुण्य फलदायक माना गया है। इस प्रकार तीर्थयात्रा जहाँ ऋषिकल्प साधुमना परिव्राजकों के लिए उच्चस्तर को तपश्चर्या मानी गई है, वहाँ सर्व साधारण के लिए उसका महत्व कम नहीं है, अतः उसे ग्रहण किया जाना चाहिए। वे भी यथासंभव जन-जागरण का कार्य करते हुए उस पदयात्रा के साथ जुड़े हुए पुण्य प्रयोजन का कम लाभ नहीं उठाते हैं। जो इस तीर्थ प्रक्रिया के लिए सुविधा-साधनों की व्यवस्था करते हैं, वे भी धर्मात्मा कहलाते और सद्गति पाते हैं ॥ ८७-९२ ॥

तीर्थों में दान, पुण्य की परंपरा आरंभ काल से ही प्रचलित है। यों यह प्रक्रिया सदा से ही धर्मधारणा का अविच्छिन्न अंग मानी और श्रद्धापूर्वक क्रियान्वित की जाती रही है। पर उसका तीर्थ स्नान में अधिक भावना पूर्वक चरितार्थ करने और सामान्य स्थानों की तुलना में अनेक गुना पुण्यफल माने जाने का जो शास्त्र वचन है, वह अकारण नहीं, उसके पीछे कुछ तथ्य भी हैं। तीर्थ के ऋषि आश्रम प्रकारांतर से धर्म-धारणा की ऊर्जा उभारने वाले बिजली घर जैसे थे। ये सुविस्तृत क्षेत्र में शक्ति धारा भेजते और जन-जन के अभावों की पूर्ति करते थे। उन्हें ऐसे विशालकाय जलबाँधों की भी उपमा दी जाती है, जहाँ से अनेक नहरें निकलती और व्यापक क्षेत्र को सींचती हैं।

जब छोटे से छोटे कार्य के लिए साधन चाहिए, तो इन तीर्थ संस्थाओं की भी तो आवश्यकताएँ रहेंगी ही। अध्यापन और व्यवस्था में लगे व्यक्तियों को निर्वाह चाहिए। आच्छादन, उद्यान, प्रकाश, स्वच्छता आदि के लिए खर्च चाहिए। निजी उद्योग-व्यवसाय न होने पर उसकी पूर्ति कैसे हो? उसका उत्तर एक ही केंद्र बिंदु पर आ टिकता है कि श्रद्धालु तीर्थ यात्री अपनी परमार्थ भावना का परिपोषण करने के लिए तीर्थ संस्थानों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखें और उनकी पूर्ति के लिए अपनी उदारता को भाव भरी उमंगों के साथ चरितार्थ होने दें।

महान्तो मानवाः स्वां तु क्षमता तीर्थनिर्मितौ ।

तद्व्यवस्था निमित्तं च व्यधुस्तत्र नियोजिताम् ॥ ९३ ॥

कर्म चक्रुः परार्थं च पुण्यभाजो यशस्विनः ।

अभूवन् मार्गद्रष्टार उच्यन्तेऽध्यात्मसंस्कृतेः ॥ ९४ ॥

टीका—अनेक महामानवों ने अपनी क्षमता को तीर्थ स्थापना एवं व्यवस्था के लिए नियोजित किया और सच्चे अर्थों में परमार्थ कमाया, पुण्य और यश के भागीदार बने, जिन्हें अध्यात्म संस्कृति का मार्ग द्रष्टा भी कहा जाता है ॥ ९३-९४ ॥

सही अर्थों में वास्तविक पुण्य के भागीदार वही बनते हैं, जो श्रेष्ठ कार्यों में अपनी संपदा-प्रतिभा और शक्ति नियोजित करते हैं। उनके योगदान से उनके क्रियाकलाप से तीर्थ भी धन्य बन जाते हैं।

तीर्थ स्थापना का तीर्थ परंपरा का प्रचलन किस आचार पर, किस आधार पर प्रादुर्भूत हुआ, इसका तात्त्विक विवेचन करने पर प्रकट होता है कि तीर्थ कहाँ बने हैं, जहाँ (१) कोई महामानव, ऋषि, तपस्वी आत्म कल्याण और लोक कल्याण के पुण्य प्रयोजन की तपश्चर्या में निरत रहे हों (२) किसी देवता ने किसी परमार्थ परायण साधक के प्रयत्नों में सहायता करने के लिए वरदान दिया हो (३) ऐसी कोई घटना घटित हुई हो, जिसमें आदर्शवादिता पनपने के लिए त्याग, बलिदान करने का इतिहास जुड़ा हो (४) कोई महत्वपूर्ण निर्धारण या शुभारंभ हुआ हो (५) किसी महामानव का जन्मस्थान या क्रियाकलापों का कार्य क्षेत्र रहा हो (६) उस स्थान की अपनी प्राकृतिक विशेषता रही हो, इस परिधि में प्रायः हर तीर्थ की स्थापना, परंपरा एवं गरिमा का मूल्यांकन किया जा सकता है।

सच्चे संत-महामानव ही तीर्थ की महिमा बढ़ाने वाले होते हैं।

नह्यमयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छिलामया,

ते पुनन्ति उरूकालेन ।

दर्शनाद् एव साधवः ॥ तेषाम् एव,

निवासेन देशास्तीर्थी भवन्ति वै ॥

—भागवत

जल से तीर्थ नहीं बनते, न देवता मिट्टी और पत्थर से बनते हैं, उनकी उपासना करने से बहुत काल में मन की शुद्धि होती है, पर सच्चे साधुओं के दर्शन और सत्संग से ही चित्त सद्यः शुद्ध हो जाता है।

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः स्थेन गदाभृता ॥

—भागवत

युधिष्ठिर विदुर से कहते हैं आप जैसे भक्त स्वयं ही तीर्थ रूप होते हैं। आप लोग अपने हृदय में विराजित भगवान के द्वारा, तीर्थों को महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं।

सत्रेणाऽद्यतनेनालं सन्तोषं सर्व एव ते ।

जग्मुरुत्साह एतेषां ववृधे कर्मपद्धतौ ॥ ९५ ॥

प्रज्ञोपनिषद् ४.३७

देवसंस्कृतिसंबद्धैर्विधिभिर्यानि संति तु।
संसक्तानि महोद्देश्यकर्माणीह च पूर्णतः ॥ ९६ ॥
तानि विज्ञाय सर्वेऽपि श्रोतारस्त्रस्तत्र निर्मलाः।
प्रसन्नमानसा दृष्टाः पूर्णे स्वीये मनोरथे ॥ ९७ ॥
सायं सन्ध्याविधेः कालात्पूर्वमेव च शोभनम्।
सत्रमद्यतनं पूर्णं यथापूर्वं यथाविधि ॥ ९८ ॥

टीका—आज के सत्र में सबको बहुत संतोष मिला व कर्म के प्रति उत्साह बढ़ा। देवसंस्कृति के क्रिया-कलापों के साथ जुड़े हुए महान उद्देश्यों से भली प्रकार अवगत होकर सभी श्रोता मनोरथ पूर्ण होने से प्रसन्न दिखाई पड़ते थे। सायंकाल होने से पूर्व अन्य दिनों की तरह आज का सत्र भी समाप्त हो गया ॥ ९५-९८ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते तीर्थ-देवालय इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥